शिक्षा एवं संस्कृति की चुनौतियाँ

डॉ. शशिकला त्रिपाठी

प्रकाशक :
कला प्रकाशन
बी. 33/33 ए - 1, न्यू साकेत कालोनी,
बी0 एच0 यू0, वाराणसी-5
दूरभाष : 0542-2310682

© सम्पादिका द्वारा सर्वाधिकार सुरक्षित
डॉ. शशिकला त्रिपाठी

प्रथम संस्करण : 2013
ISBN : 978-93-81698-74-7
मूल्य : 700.00 रुपये

कम्प्यूटर अक्षर संरचना :
कला कम्प्यूटर मीडिया
बी. 33/33 ए - 1, न्यू साकेत कालोनी,
बी0 एच0 यू0, वाराणसी-5
दूरभाष : 0542-2310682

मुद्रक :
महावीर प्रेस
भेलूपुरा, वाराणसी

अनुक्रम

भूमिका ... ... iv-vi

1. संस्कृति, सभ्यता का संकट 9-15
   विष्णुचंद्र शर्मा
2. शिक्षा, शिक्षा नहीं प्रशिक्षण है 16-24
   राजेन्द्र कुमार
3. स्वत्व को बचाए रखने की आवश्यकता 25-26
   महेन्द्रनाथ राय
4. भारतीय परिदृश्य में शिक्षा की प्रमुख चुनौतियाँ 27-33
   हरिकेश सिंह
5. मानवीय संवेदनाओं का विकास ज़रूरी 34-35
   विजय शिवपुरी
6. मूल्यों का संरक्षण ही शिक्षा, संस्कृति की चुनौती 36-39
   स्वामी चिदानन्द
7. उपभोग की संस्कृति संतोषप्रद नहीं 40-41
   ब्रह्मदेव मिश्र
8. बदलते जीवन मूल्य के परिप्रेक्ष्य में शिक्षा 42-44
   सुषमा जोशी
9. शिक्षा के नए कदम और अजगरी उदासीनता 45-53
   शशिकला त्रिपाठी
10. भारत में उच्च शिक्षा की समस्याएं और समाधान 54-59
    प्रेमशंकर राम, नन्दूकुमार राम
11. हिन्दी भाषा का सुदृढ़ आधार निर्माण : शिक्षा की एक ज्वलन्त चुनौती 60-66
    सुजाता साहा
12. राहें मंजिल की बाकी हैं दुश्वारियाँ 67-72
    (भारतीय संदर्भ में शैक्षिक वर्चस्व की पड़ताल)
    निरंजन सहाय
13. शिक्षा की समकालीन चुनौतियाँ 73-77
    सुनील कुमार सिंह

राहें मंज़िल की बाक़ी हैं दुश्वारियाँ

(भारतीय सदर्भ में शैक्षिक वर्चस्व की पड़ताल)

डॉ0 निरंजन सहाय

भारतीय संदर्भों में राजसत्ता, समाज व्यवस्था और शिक्षा संदर्भों के बेहद संश्लिष्ट अनुभव रहे हैं। औपनिवेशिक समय से लोकतान्त्रिक अनुभवों तक और अब बाजारवाद के इस मौजूदा दौर की यात्रा में इसे बखूबी देखा-समझा जा सकता है। इन ताकतों को निर्धारित करने में समाज की उन वर्चस्ववादी शक्तियों की अहम भूमिका रही जिन्होंने परंपरागत रूप से इन ढाँचों पर अपना नियंत्रण रखा। कभी परोक्ष रूप से तो कभी अपरोक्ष रूप से वर्णवाद, सामंतवाद या फिर पुरुष वर्चस्व की अनुगूँजों को शैक्षिक परिवेश में हम देख सकते हैं। आज़ादी के सूरज के उगने के बाद जब लोकतान्त्रिक दुनिया में जाने के मंसूबे तय हुए उस समय ऐसा लगा कि तेज़ परिवर्तन के दौर का आगाज़ हो चुका है। ऐसा नहीं कि बदलाव की बयार नहीं बही पर परिस्थितियों की अनेक जटिलताएँ बदस्तूर जारी रहीं। यह जानना जरूरी है कि कैसे शिक्षा संबंधी नीतियों के निर्धारण में वर्चस्ववादी तबके की केन्द्रीय भूमिका असर डालती है।

वर्णवादी भारतीज समाज में वर्चस्व का दायरा इस बात के लिए खास तौर पर चौकन्ना रहा है कि ज्ञान के दुर्ग में अवर्णों (दलितों) का प्रवेश सदा निषिद्ध रहे। भारतीय आधुकिता ने प्रायः इससे बचने की कोशिश की। बंबई सरकार के इस आदेश के बाद कि सार्वजनिक स्कूलों में अछूत बच्चे भी प्रवेश के हक़दार हैं, 8 अगस्त 1935 को कवि गाँव में अछूतों ने अपने चार बच्चों को स्कूल में प्रवेश करा दिया। विरोधस्वरूप सवर्णों ने अपने बच्चों को न सिर्फ स्कूल से निकाल दिया बल्कि कुछ दिनों बाद सवर्णों ने लाठी, तलवार और बरछों से अछूतों के घर पर हमला कर दिया। उनके बच्चों, बूढ़ों और महिलाओं को घरों से निकाल कर बुरी तरह घायल कर दिया गया। सवर्णों ने काम और बनियों ने सामान देना बंद कर दिया। घटना का सबसे दुखद पहलू यह था कि अछूतों ने हर जगह सहायता की गुहार लगायी, पर कहीं से कोई सहायता नहीं मिली। अंततः अछूतों ने ढोलका अदालत में मजिस्ट्रेट से शिकायत की। इस मुद्दे पर गाँधी और अम्बेडकर का द्वन्द्व प्रकट हुआ। अम्बेडकर ने इसे भारतीय समाज का नारकीय पहलू करार दिया। दूसरी तरफ गाँधी ने इस मुद्दे से बचने से की सलाह दी। यह एक ऐसा नाज़ुक मसला था जिसके आलोक में

शिक्षा को रक्षा सेवा से संबंधित किया जा सकता है। श्रीमती गाँधी पर दबाव था कि अमेरिका की चुनौती झेल सकें। यह वही वक्त था जब भारत खाद्यान्न उत्पादों के लिए अमेरिका पर निर्भर था। शिक्षा पर हरित-क्रान्ति जैसी योजनाओं को मूर्त करने का दबाव था। शिक्षा योजनाओं को इस बात की चिंता थी कि कितने किसान ग्रेजुएट हो जाएँ। ऐसे ही समय कोठारी आयोग ने बुनियादी तालीम को कल्पना के विपरीत बताया।

दूसरे दौर की शुरूआत 1966 में हुई। लैटिन अमेरिका के मद्देनज़र भारत की शिक्षा नीतियों पर दबाव बना कि साक्षरता दर बढ़ायी जाय। उस दौर में उच्च शिक्षा की स्थिति अन्य मुल्कों से अच्छी थी। भारत की विरासत में उन चार विश्वविद्यालयों की स्मृतियाँ शामिल थीं जो 19वीं सदी के मध्य में ही बन गये थे। आज़ादी के बाद आरंभिक दशकों में उच्च शिक्षा तेज़ी से आगे बढ़ी। 1966 के ही दौर में उद्योग धंधों के तेज़ विकास हुए। भारत के मध्य वर्ग ने राज्य से अलग अपनी ताक़त तलाशना शुरू कर दिए। सत्तर के दशक के बाद से शुरू हुए इस दौर ने जब नब्बे के दशक का स्पर्श किया तब तक भारत में निजी स्कूलों का बड़ा तंत्र विकसित हो गया। जे. पी. नाइक ने 1975 में बताया कि 1947-1975 की अवधि में अध्ययनरत 100 बच्चों में 1 बच्चा ही दसवीं तक बचता है। इस दरमियान स्कूल छोड़ने की प्रक्रिया समान रहती है। हालत यहाँ तक पहुँचती है कि राज्य एक नये तरह के विचार के साथ शिक्षा संसार में अपनी उपस्थिति दर्ज़ कराता है। 1986 की राष्ट्रीय शिक्षा में 'नवोदय विद्यालय' का प्रवेश होता है। कम-से-कम एक श्रेष्ठ विद्यालय की अभीप्सा तक राज्य की चिंताएं सिमट जाती हैं। मध्य वर्ग नये समीकरण ढूंढ़ने में सफल होता है। लगभग पाँच सौ शोध इस पर हुए कि उपेक्षित वर्ग शिक्षा से नये तरह की उम्मीदें करता है। एनसी.ई.आर. टी का शर्मा और सप्रा का अध्ययन इस लिहाज से उल्लेखनीय है। 1990 के बाद इससे संबंधित कोई शोध नहीं हुए। मान लिया गया कि हर वर्ग शिक्षा का महत्त्व समझ गया है और यदि शिक्षा हर वर्ग तक नहीं पहुँच रही है तो यह माता-पिता की नहीं बल्कि राज्य की असफलता है।

तीसरे दौर की शुरूआत 1996 से मानी जा सकती है। थाईलैंड के ज्योमेतेरियन शहर में इसी साल एक अंतर्राष्ट्रीय सहमति बनी, विश्व बैंक ने एक नयी पोशाक में शिक्षा को प्रस्तावित किया। यह वैश्वीकरण का दौर था। इसी दौर में नरसिंह राव ने उदारीकरण को भारत की प्रगति से जोड़ा। भारत को कई बुनियादी बदलाव करने पड़े। अंतर्राष्ट्रीय दबावों के तहत यह तय किया गया कि राज्य शिक्षा और स्वास्थ्य की जिम्मेदारियाँ धीरे-धीरे कम करेगा। शिक्षक को असुरक्षित रखने के सिलसिले भी शुरू हुए। शिक्षामित्र जैसी अवधारणाएँ सामने आयीं। बेहद जटिल स्थितियों वाले दौर में हम लोग जी रहे हैं। नव उदारवाद का यह दौर बहुत ही अनुदारवादी है। वस्तुतः यह एक पूँजीवादी विचार है जो पूँजी हित में है।

यह अनेक तरह के अंतर्विरोधों का दौर है। जब तक कि मुकम्मल नामकरण नहीं होता तबतक हम इसे वैश्वीकरण का दौर कह सकते हैं। इस व्यवस्था की असंगतियों को देखते-समझते हुए नीतियों का निर्माण करना चुनौतीपूर्ण है। 'शिक्षा का अधिकार' जैसे विधेयक का जब निर्धारण हुआ तब अनेक शिक्षाविदों ने इसे अधूरा कहा। पर भारत जैसे देश में यह बेहद महत्त्वपूर्ण है।

आवश्यकता इस बात की है कि भारत की शैक्षिक यात्रा का सिंहावलोकन किया जाय। समाज और संस्कृति की तरह शिक्षा भी लंबी लय में काम करती है। आज़ादी के बाद भी कमोबेश पुरानी नीतियाँ ही जारी रहीं। नेहरू के समय जिन प्रशासनिक सुधारों की अवधारणा तैयार हुईं वे अभी तक लागू नहीं हुए। 1909 की पुस्तक 'हिन्द स्वराज' में गाँधी किसी और राज की जगह अपने राज का सपना देखते हैं। गाँधी को ब्रिटेन से शिकायत है कि वह राज भला कैसे चल सकता है, वहाँ तो 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' की नीतियाँ ही सक्रिय हैं। दरअसल निरंतरताएँ शिक्षा जैसे विषय के लिए महत्त्वपूर्ण हैं। शिक्षा का उद्देश्य है कि वह अतीत-वर्तमान दोनों से मुक्त हो भविष्य के प्रति उम्मीद जगाए। जो निरंतरताएँ भारतीय समाज में बखूबी जारी हैं, उनमें सबसे उल्लेखनीय है–ज्ञान और कौशल को भारतीय समाज के एक बहुत बड़े वर्ग से दूर रखने की निरंतरता। उपनिवेश काल में ज्ञान के कौशल और हाथ से काम करने के बीच दूरी या तो बढ़ी या बरकरार रही। हालत यहाँ तक पहुँची कि ज्ञान को इस रूप में देखा जाने लगा कि उसका उत्पादन कहीं और होता है और ग्रहण कहीं और किया जाता है। रवींद्रनाथ टैगोर कहते हैं, 'हमारे बच्चे सरस्वती के साम्राज्य में मज़दूरी करते-करते बड़े हो जाते हैं।' (3) उपनिवेशवादी सोच से ग्रस्त हम आज भी चीजों को उपनिवेशवादी तरीके से देखते हैं। हमारे सामने आविष्कारों के नाम याद करने की चुनौती होती है। भारतीय विद्यालयों में अध्यापकों के सामने यह चुनौती होती है कि वह कैसे आविष्कारों के अधिकाधिक नाम अपने विद्यार्थियों को याद करा दे। यही प्रवृत्ति एक अन्य संदर्भ में भी नज़र आती है, जब हम कहते हैं 'कभी हम बहुत बड़े थे, फिर छोटे हो गये। 'पुनरुत्थानवाद बेहद मोहक शब्दावली में हमारे सामने आता है। इस सिलसिले में श्रीलंका के मशहूर समाजशास्त्री सुसांत गुणतिलक ने 'पंगु मस्तिष्क' शीर्षक से एक मूल्यवान अध्ययन किया है। उन्होंने अपने अध्ययन में पाया कि पूँजीवादी देशों में जिस संस्कृति, विज्ञान और प्रद्यौगिकी का जन्म हुआ वह कोई सार्वभौम संस्कृति नहीं थी। बल्कि उसका चरित्र उपनिवेशवादी मुल्कों के विशेष प्रकार के सामाजिक आर्थिक ढाँचे का परिणाम था। इसलिए उपनिवेशों के विज्ञान पर उसकी छाप सहजता से नज़र आती है। उन उपनिवेशों की संस्कृति अपने शोषक देशों के आर्थिक-सांस्कृतिक क्रियाकलापों से प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से संचालित होती हैं। यही कारण है कि पूँजीवादी देशों के विकास के चरणों की छाया

उनके उपनिवेशों में भी स्पष्ट तौर पर नज़र आती है। यहाँ तक कि इस सांस्कृतिक प्रभाव के विरोधियों और समर्थक उपनिवेशों में भी इसे देखा जा सकता है। (4) इन सबकी अनुगूँजे शिक्षा संसार में भी दिखती हैं।

एक अन्य तरह की दुविधा हमारे सामने भाषा के संदर्भ में है। इस सिलसिले में उपनिवेशकालीन मानसिकता और भी गहरी हो गयी है। हालत यहाँ तक पहुँच गयी है कि हमारे सर्वश्रेष्ठ स्कूल भी भाषा को लेकर दुविधाग्रस्त हो गये हैं। उनकी गिरफ्त में छोटे स्कूल भी तेजी से आ रहे हैं। सदी के दूसरे दशक में यह सवाल बहुत महत्त्वपूर्ण है कि क्या भारतीय भाषाओं में ज्ञानार्जन संभव है? मौजूदा बाज़ारवादी दौर में यह सवाल भी बहुत मौजू है कि शिक्षा राज्य का काम है या बाज़ार का? आने वाले समय में शिक्षा को सीधे लाभ से और भी आक्रमक तरीके से जोड़ा जाएगा। नवधनाढ्य वर्ग में यह समझ अक्रामकता का रूप धारण करती जा रही है कि जब हर चीज़ बिकाऊ है और शिक्षा भी बिकाऊ है तो फिर इससे कुछ लोगों को क्यों दिक्कत होती है? इस वर्ग ने समाज में इस समझ का तेज़ी से विस्तार किया है कि सरकारी शिक्षा दोयम दर्जे की है। यह सरकार को लेकर बन रही निरंतरता है। इस तरह भले ही हम अपने राज में जी रहे हैं, पर आत्मा अभी भी याद दिलाती है कि ताक़त किसी और के द्वारा संचालित है। 'खाकी पोशाक' गाँव में भय पैदा करता है। पुलिस के तौर-तरीक़े उपनिवेशकाल की या दिलाते हैं।

भारतीय राज्य अभी भी लोकतान्त्रिक बनने के लिए प्रयासरत हैं। दरअसल परिपक्व लोकतन्त्र की यह निशानी है कि वह सार्वजनिक संस्थाओं-व्यवस्थाओं में जनभागीदारी सुनिश्चित करे। फिर चाहे मुद्दा शिक्षा का हो या फिर अन्य व्यवस्थाजनक सरोकारों का। शिक्षा समेत अन्य संस्थाओं की योजनाओं पर अभी भी परोक्ष-अपरोक्ष रूप से मध्यवर्ग की जकड़न बदस्तूर कायम है। ऐसा साफ़ तौर पर महसूस किया जा सकता है कि संपूर्ण शिक्षा-व्यवस्था इसी वर्ग की आकांक्षाओं को संबोधित करती रही है। फिर चाहे स्कूली शिक्षा की पाठ्यचर्या के मुद्दे रहें हों या पाठ्य-सामग्रियों के। हालिया वर्षों में नवाचारों और सरोकारों के आलोक में शैक्षिक बदलाव के मंजर नज़र आने लगे हैं। पाठ्चर्या और पाठ्य-पुस्तकों के संदर्भ में, 6 से 14 वर्ष के बच्चों के लिए शिक्षा के अधिकार के कानून जैसे हलकों में इस बदलाव की बयार महसूस की जा सकती है। जाहिरन शैक्षिक बदलाव का यह सफ़र लंबा है और चुनौतियों से भरा हुआ भी। यदि भारतीय राज्य सही मायनों में लोकतंत्र को स्वीकार करता हो तो एक ऐसा तंत्र गढ़ने की ज़रूरत है जो समता और न्याय के विचार की स्थापना करने की दिशा में कार्य करे। निश्चित रूप से शिक्षा ही वह जरिया है जो इसे साकार कर सकती है। लेकिन इसके लिए राज्य को ऐसी प्रक्रियाएँ स्थापित करनी होंगी जो सभी बच्चों के लिए समान गुणवत्ता की लोकतान्त्रिक समझ से संपन्न हों। (यह लेख

प्रो. कृष्ण कुमार के उस व्याख्यान से प्रेरित है, जो काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के राधाकृष्ण सभागार में 1 दिसंबर 2011 को भारत के परिदृश्य में शैक्षिक वर्चस्व के संदर्भ में दिया गया था। लेखक इसके लिए कृतज्ञ हैं।)

सन्दर्भ सूची

1. डॉ. अम्बेडकर एक पुनर्मूल्यांकन, कँवल भारती, बोधिसत्व प्रकाशन, रामपुर 1997।
2. On Education-Hindi Kitab, Bombay, 1947.
3. प्रो. कृष्ण कुमार का काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में 1 दिसंबर 2011 को दिया गया व्याख्यान।
4. पंगु मस्तिष्क : शिक्षा पर औपनिवेशिक संस्कृति का दबाव, सुसांत गुणतिलक, अनुवाद-स्वयं प्रकाश, ग्रंथ शिल्पी (इंडिया) 200।